ISSN : 2320–1274

# परिकथा

समय और समाज की परिक्रमा

जनवरी-मार्च, 2026

मूल्य : 150 रुपये

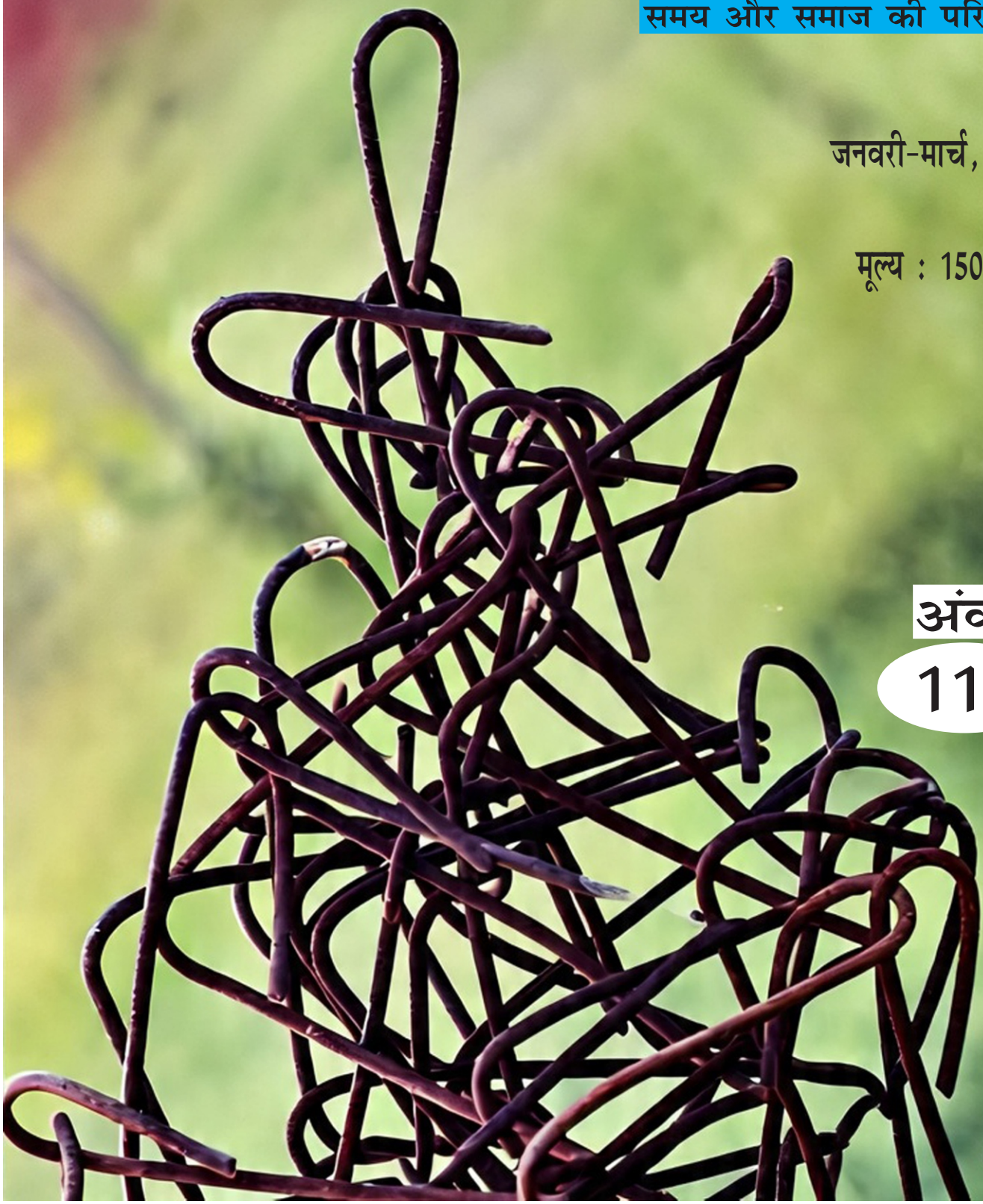


अंक

110

आलोचनात्मक टिप्पणियाँ

डॉ. नितिन सेठी

# 'परिकथा' का 109वाँ अंकः परिनिष्ठित स्तरीयता का आह्लादकारी अनुभव

प्रतिष्ठित पत्रिका 'परिकथा' समय और समाज की सजगता से परिक्रमा करती है। अपने पूर्ववर्ती अंकों की तरह ही 'परिकथा' का सितंबर-दिसंबर 2025 अंक भी महत्त्वपूर्ण और सार्थक बन पड़ा है। यह 'परिकथा' का 109वाँ अंक है। अनेक साहित्यिक स्तम्भों को समेटे हुए यह पत्रिका अपने समय और समाज की प्रत्येक गतिविधि पर गहरी दृष्टि भी रखती है। हर बार की तरह पत्रिका के संपादक वरिष्ठ साहित्यकार शंकर का संपादकीय समसामयिक विषयों पर आधारित है। इस बार का संपादकीय 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सार्वभौमिक भावना की अभिव्यक्ति है। शंकर का विचार समीचीन ही है कि विभिन्न प्रकार के युद्धों ने किसी भी देश को बरबादियों के अलावा कुछ नहीं दिया है। वास्तव में ये युद्ध नहीं, बल्कि बहुत बड़े स्तर पर नरसंहार हैं। शंकर इस बात पर जोर देते हैं कि युद्धों और पुनर्निर्माण पर खर्च होने वाली धनराशि यदि लोककल्याण और लोकहित के कामों में लगाई जाए तो धरती सचमुच स्वर्ग बन सकती है परन्तु उसके लिए हमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को आत्मसात् करना होगा।

वर्ष 2025 गुरुदत्त का जन्मशती वर्ष भी है। डॉ. मनीष कुमार जैसल अपने आलेख 'प्यासाः बुझती-जलती लौ में समाज का आईना' में गुरुदत्त की 'प्यासा' फिल्म की रचनात्मक संवेदना और उसकी सामाजिक चेतना पर बात करते हैं। 'प्यासा' फिल्म वर्ष 1957 में प्रदर्शित हुई थी। फिल्म में गुरुदत्त नायक थे जिसका नाम विजय था। विजय की आँखों के सपने बिखरते हुए जब दर्शक देखता है, तब उसका दुःख दर्शक भी आत्मसात् कर लेता है। यहाँ विजय की केवल सामाजिक असफलता ही नहीं है अपितु भावनात्मक रूप से भी वह बिखरता है। व्यक्तिगत प्रेम में भी वह असफल ही होता है। आज जब-जब फिल्म स्टडीज की बात होती है, तो 'प्यासा' फिल्म एक पुस्तक की तरह पढ़ाई जाती है। एक 'प्यासा' फिल्म को देखकर ही तकनीक, संगीत, कैमरा, संपादन, लेखन-सभी कुछ एक साथ एक ही स्थान पर गहराई से सीखा जा सकता है। डॉ. मनीष कुमार उचित ही लिखते हैं, 'वर्तमान डिजिटल युग में जहाँ डीप-फेक और ए.आई. जैसे शब्द रोज नई नैतिक चुनौतियाँ पेश कर रहे हैं, 'प्यासा' हमें याद दिलाती है कि तकनीक से पहले कथ्य का नैतिक विवेक आवश्यक है। गुरुदत्त ने सीमित संसाधनों में जो दृश्यबंध रचा, वह तकनीकी चमत्कार से नहीं, वैचारिक स्पष्टता और मानवीय करुणा से उपजा था। इसीलिए 'प्यासा' देखने वाला हर दर्शक अंततः अपने भीतर प्यास की चिंगारी महसूस करता है। एक ऐसी प्यास जो सिर्फ पानी से नहीं बल्कि न्याय, समानता और प्रेम से बुझती है।'

'हिंदी व उर्दू के रिश्तों पर एक नज़र' आलेख डॉ. जानकीप्रसाद शर्मा के आलेख का प्रथम किस्त है जिसमें डॉ. जानकीप्रसाद शर्मा उर्दू की जान फारसी में नहीं अपितु देसी भाषा परंपरा में है, यह सिद्ध करते हैं। उल्लेखनीय है कि उर्दू की लिपि भले ही फारसी लिपि है परन्तु यह केवल मुसलमानों की भाषा नहीं है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित अनेक भाषाओं में एक भाषा उर्दू भी है। आलेख का मूल स्वर है उर्दू का फारसी से रिश्ता जोड़ने की भ्रांत धारणाएँ जिनका अनेक प्रामाणिक उदाहरणों से खण्डन डॉ. शर्मा प्रस्तुत करते हैं। इसमें वे हिंदी और उर्दू के व्याकरण के साथ-साथ भाषाविज्ञान की भी सहायता लेते हैं। यह डॉ. जानकीप्रसाद शर्मा के लेखन की विशेषता ही रही है कि इस जटिल विषय को भी वह बेहद सरल शब्दों में और आमफहम भाषा में प्रस्तुत करते हैं। इसी क्रम में वे हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के साहित्य के इतिहास पर भी प्रश्न उठाते हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि आधुनिक खड़ी बोली हिंदी और उर्दू-दोनों के ही पूर्वज

**डॉ. नितिन सेठी**

प्रतिष्ठित अलोचक।
**संप्रति :** प्राध्यापक।

**संपर्क**
सी-231, शाहदाना कॉलोनी
बरेली-243005 (उ.प्र.)
मो.: 9027422306

अमीर खुसरो हैं। अत: अमीर खुसरो का जिक्र तो दोनों ही भाषाओं के इतिहासों में निश्चित रूप से तो मिलता है परन्तु दु:ख की बात यह है कि इसके आगे दोनों ही भाषाओं के साहित्यकारों की परंपरा अलग होती जाती है। हिंदी में कुली कुत्ब शाह और उनके समकालीन दक्षिणी शायरों का कोई जिक्र नहीं मिलता और इसी तरह उर्दू अदब में भी बिहारी, भूषण, पद्माकर, सेनापति आदि कवियों का कोई जिक्र नहीं मिलता जबकि दोनों की परंपराओं में एकसारता और एकरूपता के तत्त्व बड़ी आसानी से परिरक्षित किया जा सकते हैं। आलेख के अंत में लेखक इस तथ्य पर भी प्रश्नचिह्न उठाते हैं कि आखिर क्यों उर्दू को अपनी लिपि छोड़कर देवनागरी लिपि अपना लेनी चाहिए। डॉ. शर्मा इस विचार को ही गलत मानते हैं और इसे उर्दू भाषा के वजूद से इनकार के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। इस आलेख की दूसरी किस्त का भी इंतजार पाठकों को निश्चित रूप से रहेगा।

पत्रिका का एक महत्त्वपूर्ण खंड 'परिदृश्य' है जिसमें हाल-फिलहाल के उपन्यासों पर संबंधित उपन्यासकारों से बातचीत प्रस्तुत की गई है। 'महासमर की साँझ' उपन्यास के लेखक राकेश कुमार सिंह से प्रोफेसर मृत्युंजय सिंह ने बातचीत प्रस्तुत की है। उल्लेखनीय है कि 'महासमर की साँझ' का कथानक सन् 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के संदर्भ में रचा गया है। साक्षात्कारकर्ता ने राकेश कुमार सिंह से इस उपन्यास की विस्तृत पूर्व तैयारी के बारे में गहराई से बात की है। नीलांबर और पीतांबर शाही दो प्रसिद्ध क्रांतिकारी योद्धाओं के अंग्रेजों के प्रति विद्रोह का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा भी प्रस्तुत उपन्यास में है। सिविल सर्विसेज एक ऐसी परीक्षा है जिसकी तैयारी प्रतिवर्ष लाखों प्रतियोगी छात्र करते हैं परंतु इसमें सफलता का प्रतिशत बहुत कम रहता है। ऐसे संवेदनशील विषय को आधार बनाकर 'डार्क हॉर्स' और 'ट्वेल्थ फेल' जैसे उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। सुनील कुमार झा का उपन्यास 'राजधानी एक्सप्रेस वाया उम्मीदपुर हॉल्ट' हिंद युग्म प्रकाशन से प्रकाशित हुआ है जिस पर डॉ. स्नेहा सिंह ने बातचीत प्रस्तुत की है। डॉ. स्नेहा सिंह प्रश्न उठाती हैं कि इस उपन्यास में मुख्यत: बिहार के छात्रों को आधार बनाए जाने का क्या कारण रहा है जिसका सुनील कुमार झा बहुत ही सटीक और तथ्यात्मक उत्तर देते हैं। डॉ. स्नेहा सिंह ने उपन्यास के बारे में यह तथ्य उचित ही रेखांकित किया है कि प्रस्तुत उपन्यास केवल सिविल की तैयारी में जुटे छात्रों की कहानी तक ही सीमित नहीं रहा है बल्कि बाढ़, बेरोजगारी, निम्न मध्यवर्ग की समस्याएँ, वर्तमान आर्थिक-सामाजिक परिदृश्य की ओर भी ध्यान अपने पाठकों का खींचता है। शिवना प्रकाशन, सीहोर से प्रकाशित मंजूश्री के उपन्यास 'आखिरी पायदान पर खड़ा आदमी' पर डॉ. अंजु शर्मा ने बात की है। वे लिखती हैं कि यह उपन्यास वर्तमान राजनीति, जातिभेद, शोषित वर्ग पर आधारित है। ग्रामीण अंचल पर आधारित नीरज वर्मा का उपन्यास 'आधा सच' अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है जिस पर डॉ. नीलाभ कुमार ने बातचीत प्रस्तुत की है। किसान जीवन के कष्टों को लेकर नीलाभ अनेक प्रश्न उपन्यासकार से करते हैं। नीलाभ नीरज वर्मा से उपन्यास में कथ्य की अपेक्षा भाषा की सफलता पर भी बात करते हैं।

कबीरदास ने अपने उपदेशों के माध्यम से समाज का कड़वा सच सामने रखा। उन्हें जैसा उचित लगा, बिना किसी दबाव और प्रभाव के उन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी रचनाओं में उसे अभिव्यक्त किया। कोई तो कारण है जो कबीर आज भी प्रासंगिक हैं। वरिष्ठ साहित्यकार अशोक शाह 'हमें कबीर चाहिए' आलेख में यही बात स्पष्ट करते हैं। अपनी मौलिक भाषा में बोलने वाले कबीर सभी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, आध्यात्मिक अन्यायों का प्रतिकार करते थे और विषमता को दूर कर समानता लाना चाहते थे। निर्गुण विचारधारा के पथ पर चलकर कबीर ने बिना कागज-मसी छुए ही जीवन के ऐसे रहस्यों का उद्घाटन कर दिया था कि आज भी विद्वान उस पर गहराई से विचार करते हैं। अशोक शाह विभिन्न विद्वानों के कबीर के सन्दर्भ में कथन भी उद्धृत करते हैं। कबीर का ईश्वर कबीर को सभी मानवीय रिश्तों-नातों में उपलब्ध हो जाता है। लेखक का निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण है, 'कबीर का कार्य आज भी अधूरा है। समता स्थापित करने हेतु अंबेडकर रचित भारत के संविधान की नींव के पाए मजबूत करने की आज बेहद आवश्यकता है। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि मानव जीवन का उद्देश्य सुख और शांति की प्राप्ति है तो शांति कुछ मनुष्य के लिए नहीं बल्कि दुनिया के समस्त मानव जाति के लिए यह जरूरी है। एक मानव दूसरे मानव के अधिकारों जीने के अवसरों का हनन कर अपना जीवन गरिमा में नहीं बन सकता। जीवन का अधिकार तथा जीने के गरिमा पर सबका मालिक हक है। यह कार्य अभी पूरा किया जाना शेष है।'

'स्त्री लेखन' खंड के अंतर्गत दो कहानी संकलनों पर समीक्षापरक आलेख प्रस्तुत किए गए हैं। 'रोशनी के दरमियान' पूनम सिंह द्वारा संपादित पुस्तक है जिस पर डॉ. किरण ने विस्तारपूर्वक लिखा है। उनका कहना उचित ही है कि प्रस्तुत कथा संकलन में स्त्रियों की केवल पीड़ा, रोदन, तड़प और बेचैनी ही नहीं हैं अपितु उनके सपने, प्रेम, उपदेश को भी स्थान दिया गया है। डॉ. वदना गुप्ता द्वारा संपादित कथा संकलन 'सरे बाजार कथा बाँचती स्त्रियाँ' को युवा कथाकार-आलोचक चारुमित्रा एक यथार्थवादी स्त्री विमर्श और बाजारवादी समय का दस्तावेज दर्शाती हैं। चारुमित्रा स्पष्ट करती हैं कि आज

की स्त्री रचनाकार केवल संवेदना की प्रतिनिधि नहीं रहीं, वे सक्रिय हस्तक्षेप करती हैं, प्रतिरोध रचती हैं और अपने समय की सचमुच गवाही बनती हैं।

डॉ. मीराकांत अपने यात्रा वृत्तांत 'साकार मन्नतों का प्रदेश लद्दाख' में लद्दाख का चित्रात्मक वर्णन प्रस्तुत करती हैं। वे लद्दाख की सांस्कृतिक विरासत को भी शब्दायित करती हैं और पाठकों को भी अपने साथ-साथ लद्दाख की यात्रा करवाती हैं। प्रख्यात् कथाकार सूर्यनाथ सिंह के कृतित्व पर प्रोफेसर राजकुमार का आलेख पठनीय है। सूर्यनाथ सिंह की कहानियों और उपन्यासों की विशेषताओं पर राजकुमार सिंह सम्यक् आकलन करते हैं कि सूर्यनाथ सिंह की रचनाओं की एक बड़ी विशेषता यह है कि गाँव और शहर के बीच, व्यक्ति और परिवार के संबंधों के बीच, पति और पत्नी के संबंधों के बीच, नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी की सोच और मानसिकता के बीच, स्त्री-पुरुष संबंधों के बीच जो गैप बन रहे हैं और उन गैप्स के बीच जो नई स्थितियाँ बन रही हैं, उसके जो अंतर्विरोध उभरकर सामने आ रहे हैं, उसे अपनी रचना के केंद्र में वे ला रहे हैं। वास्तव में उनका लेखन परंपरागत किस्सागोई शैली में नए यथार्थ का लेखन है।

नर्मदेश्वर लंबे समय से 'चौपाल' स्तंभ में ग्रामीण परिवेश पर आधारित कहानी प्रस्तुत करते रहे हैं। इस बार की कहानी का शीर्षक है 'प्राइस टैग'। परिचित की शादी में नोएडा जाने पर ग्रामीण परिवेश के परिवार को क्या-क्या तैयारियाँ करनी पड़ती हैं, यहाँ दर्शाया गया है। यह बाजार ही है कि हम अमेजॉन, फ्लिपकार्ट, मीशो आदि से ऑनलाइन सामान मंगवाते हैं और तय समय में इसे वापस भी किया जा सकता है। इसी आधार पर सरिता शादी में सम्मिलित होने के लिए अपना सूट ऑनलाइन मँगवाती है और उसका प्राइस टैग लगा रहने देती है ताकि इसे निर्धारित समय में वापस करने में कोई समस्या सामने न आए।

प्रस्तुत अंक में कुल तेरह कहानियाँ सम्मिलित हैं। अखिलेश श्रीवास्तव 'चमन', तरसेम गुजराल, विद्याभूषण, रमेश शर्मा, डॉ. जमुना बीनी, डॉ. सुभाष जैसे नाम यहाँ उपस्थित हैं। वसीम अहमद अलीमी की उर्दू कहानी 'अखुंद' का हिंदी अनुवाद शहादत ने किया है। इस कहानी में सन् 1857 की जंग में सबसे पहले शहीद होने वाले पत्रकार मौलवी बाकर का किस्सा अभिव्यक्त किया गया है। वर्ष 2025 का प्रतिष्ठित बुकर पुरस्कार बानू मुश्ताक को उनके कहानी संग्रह 'हार्ट लैंप' के लिए प्रदान किया गया है। उल्लेखनीय है कि इसकी अनुवादक दीपा भस्थी को भी वर्ष 2024 का इंग्लिश पेन ट्रांसलेट्स अवार्ड प्रदान किया जा चुका है। कथाकार नर्मदेश्वर ने इस संकलन पर विस्तारपूर्वक समीक्षा प्रस्तुत की है। वे इसे मुस्लिम महिलाओं की व्यथाकथा का नाम देते हैं। मुस्लिम महिलाओं के त्रासद जीवन को पुरुष प्रधान समाज आज किस तरह और अधिक कष्टमय बना देता है, यहाँ उल्लेखनीय है। बनारस से प्रकाशित होने वाली प्रतिष्ठित पत्रिका 'आर्यकल्प' का 560 पृष्ठीय बृहत् विशेषांक हरियश राय और महेश दर्पण के अतिथि संपादन में प्रकाशित हुआ है जो जानकी प्रसाद शर्मा पर केन्द्रित है। उल्लेखनीय है कि जानकी प्रसाद शर्मा उर्दू के विख्यात् चिन्तक, विचारक और समालोचक हैं। हिंदी और उर्दू के बीच उन्होंने जैसे एक साहित्यिक सेतु का कार्य किया है। उर्दू भाषा को अनेक कीमती किताबों को हिंदी में अनुवादित कर उन्होंने दोनों ही भाषाओं पर बड़ा उपकार किया है। सुहैल वहीद का आलेख कम शब्दों में ही बहुत कुछ अभिव्यक्त कर जाता है डॉ. जानकी प्रसाद शर्मा और उन पर प्रकाशित 'आर्यकल्प' के विशेषांक के बारे में। हरियश राय वैसे तो प्रख्यात् कथाकार हैं परंतु सुधी आलोचक के रूप में भी हम उन्हें अक्सर पढ़ते हैं। कथेतर गद्य के अंतर्गत इस बार हरियश राय लीलाधर मंडलोई की आत्मकथा 'जब से आँख खुली है' और राजाराम भादू द्वारा लिखित जीवनी 'शिल्पकार हिमा कौल' पर अपनी बात रखते हैं। लीलाधर मंडलोई की आत्मकथा की भाषा को हरियश राय कविता और वैचारिकता के एकदम नजदीक देखते हैं जो हृदय को झिंझोड़ती भी है और हमारी सोच को परिष्कृत भी करती है। हरियश राय ठीक ही लिखते हैं कि हिमा कौल के जीवन और उनके संघर्ष हमारी स्मृति में स्थाई रूप से दर्ज हो जाते हैं। इस अंक में भी अनेक प्रतिष्ठित और नवोदित कवियों की कविताएँ दी गई हैं। पाँच बरस, इस समय, पत्थर के सामने, दिल्ली, मैं एक यात्रा में हूँ, कुंभ में धरती, किताबें जैसी कविताएँ पठनीय हैं।

'परिकथा' कथा साहित्य की तो पत्रिका है ही, साथ ही कथा साहित्य की समीक्षाएँ भी इसमें लगातार प्रकाशित होती हैं। प्रकाश कांत के कहानी संग्रह 'कंधे पर परिंदे' को महेश दर्पण जिन्दगी से उठाकर हमारे सामने रख दी गई कहानियों के नजरिए से देखते हैं जो हमारे समय, समाज, जीवन और संघर्षरत पात्रों की प्रामाणिक कथा बनकर सामने आई हैं। धनेश दत्त पांडेय के कहानी संग्रह 'फुज्जार' पर लिखते हुए हितेश कुमार सिंह इन्हें युगीन यथार्थ की अभिव्यक्ति करती कहानियाँ दर्शाते हैं। अवधेश श्रीवास्तव लगातार पाँच दशकों से साहित्य में सृजनरत हैं। गौरव राय ने अवधेश श्रीवास्तव की कहानियों को जनवादी कहानी धारा के परिप्रेक्ष्य में देखते हुए निम्न मध्यवर्ग का यथार्थ चित्रण दर्शाया है। प्रतिरोध, आग और अनुराग की कविताओं की आधारभूमि पर सुभाष राय का कविता संग्रह 'मूर्तियों के जंगल में' रचा गया है जिस पर डॉ. रामबचन यादव ने अपनी कलम चलाई है। शंकारानंद का कविता संग्रह 'जमीन अपनी जगह' को डॉ. कुमारी उर्वशी मनुष्यता की छूटी हुई जमीन की खोज के रूप में परिभाषित करती हैं।

वास्तविकता यही है कि 'परिकथा' समय और समाज की न केवल साहित्यिक परिक्रमा करती है अपितु इस साहित्यिक परिक्रमा में पग-पग पर प्रदर्शित होने वाली विभिन्न परिस्थितियों को शब्दायित भी करती है। विषय-चयन और सामग्री-प्रस्तुतीकरण-दोनों में ही एक परिनिष्ठित स्तरीयता का आह्लादकारी अनुभव पाठक को पत्रिका पढ़ते समय होता है। परिकथा का 192 पृष्ठीय यह अंक अपने पिछले अंकों की तरह ही पठनीय और संग्रहणीय है।

❑❑❑

प्रो. चंद्रकला

# 'परिकथा' : समय और समाज की परिक्रमा

'परिकथा' का साल 2025 के सितंबर से दिसंबर तक का 109 वां अंक ऐसा ही है जिसके बारे में कुछ कहने का ही नहीं लिखने का लोभ संवरण नहीं कर पा रही हूँ। यह लेख पूरे अंक पर तो नहीं, हाँ जो भी लेख, कविता कहानी और साक्षात्कार अच्छा लगा उस पर अपनी बात रखने का प्रयास भर है समसामयिक दौर की अनेकानेक समस्याओं के बीच असंवेदनशील होती मानवीय वृति, मनुष्यता के क्षरण व कुंठित होते समाज के जितने वैश्विक कुरूप रूप हो सकते हैं, अपनी पैशाचिक इच्छाओं को जबरदस्ती दूसरों पर थोपने की दादागीरी न मानने पर मिसाइलों की धौंस, चारों तरफ बरसती अग्नि की ज्वालाओं में सब कुछ हड़पने वाली लपलपाती जिव्हाएँ सम्पादकीय चिंता के दायरे में तो है हीं। इसके साथ ही आज के हथियारों की होड़ व सब कुछ के बाजारीकरण ने इस आग में पेट्रोल डालने का काम ही किया है। कुछ लोग मानवीयता की रक्षा में झंडे के साथ बंदूक उठा रहे हैं तो आज का मीडिया उन्हीं लाशों को अपने तरीके से अलग-अलग रंगों के झंडों में लपेटकर एक अलग ही तरह की दुकानदारी अपने-अपने पक्ष में चला रहे है। जो इसकी जड़ में है वह तो पिस ही रहे है, लेकिन जो अभी नहीं हैं वह भी इस आशंका में बारुदों के ढेर पर बैठ कर शांति की अपील कर रहे हैं। इससे पता लगता है नोबल का आकर्षण कम तो नहीं हुआ है।

इस गंभीर चिंतन को और आगे बढ़ाते हुए अगला लेख डॉ मनीष कुमार जैसल का सिनेमा पर है, वह भी 'प्यासा' के सौ वर्ष पर याद करने के बहाने, फिल्मी दुनिया की रंगीन पर्दे की दुश्वारियों के साथ ही उसके पीछे की न दिखाई देने वाले संघर्ष को गुरुदत्त जी के संवेदनशील गंभीर व्यक्तित्व का भारतीय सिनेमा को मिले योगदान, सिनेमा के प्रति उनके समर्पण, एक अच्छी फिल्म बनाने की जिद में अपना सब कुछ दाव पर लगा देने की सनक एक तरफ उनके जुझारूपन का संकेत देती है, तो इस तरह के लोगों का लीक को तोड़कर कुछ अलग ढंग से कला के लिए काम करना, गाँठ की पूँजी गवा कर असफलता का तमगा लिए पुनः प्रयास करना। एक समय पर नकार दिए गए उसके आत्मसंघर्ष, उसके उठाये विषय, व्यक्तित्व पर लगे लगातार के आक्षेप कैसे किसी को अँधेरी दुनिया में धकेल देते है। यह फिल्म के नायक विजय की ही नहीं खुद गुरुदत्त के अपने जीवन के आंतरिक गांठों का भी एक-एक रेशा खोलता हुआ दिखाई देता है। कहाँ विजय है और कहाँ गुरूदत्त कहना मुश्किल है-'प्यासा' हमें बार-बार याद दिलाती है कि एक सच्चा कलाकार समय की धूल में बचे हुए प्रश्नों को अनुतरित्त छोड़ देता है।'

आज इस फिल्म के सौ साल, उसकी बार-बार समीक्षा, फिल्मी दुनिया के इतिहास में इसकी चर्चा के बिना कोई पाठ पूरा नहीं होता है, एक बार भी किसी को ग्लानि नहीं होती है कि यह अन्याय आज भी कला या क्लासिक कृतियों पर आधारित फिल्मों के साथ लगातार हो रहा है। समय बीतने के बाद सोते से जाग कर कोई 'कला पारखी' सामने आता है एक भेड-चाल चल पड़ती है। जो उसे कालजयी बता कर फूल माला अर्पण करने की होड़ लगाने लगते हैं। जैसे 'प्यासा' में विजय को हाशिए पर धकेल कर यही समाज अपनी गरज से रिक्त स्थान पूर्ति के लिए सम्मान समारोह में उसकी फोटो को पूजते हैं। यह महज एक फिल्म का दृश्य नहीं है, अपितु चुका हुआ समय उसी सभ्य समाज के मुखौटे से नकाब उठ रहा होता है। इसी लेख से 'प्यासा' केवल प्लेटोनिक रोमांस या निजी किलता की कथा नहीं, वह एक सामाजिक दर्पण है, जिसमें झांकते हुए हम अपनी ही नियति देखते हैं। गुरुदत्त ने इस दर्पण को कभी पोछा नहीं; उन्होंने उस पर समय की धूल जमने दी ताकि आने वाली पीढियाँ अपने-अपने प्रश्नों के साथ उसमें अपना अक्स ढूंढ सके।' हम उस विगत को न लौटा सकते है, न ही समय ने उस स्लेट पर जो इबारत लिख दिया है उसे मिटा सकते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि वर्तमान पीढ़ी के सामने इस तरह के लेखों, के माध्यम से उसे इस समृद्ध परंपरा को देखने व् जानने की एक चेतन दृष्टि से तो जोड़ ही सकते है।

'आर्यकल्प' पत्रिका का विशेषांक

560 पृष्ठों के एक बड़े कलेवर में डॉ. जानकीप्रसाद शर्मा के अवदान को रेखांकित करता है। दोनों भाषाओं से एक दूसरे के साहित्य के अनुवाद के साथ ही उनके संग्रह 'उर्दू साहित्य की परंपरा' में संकलित लेखों, व अन्य संग्रहों पर आधारित अतिथि संपादकद्वय हरियश राय व महेश दर्पण जी की मेहनत से तैयार किए गए दोनों भाषाओं के माननीय विद्वानों के द्वारा लिखे गए लेखों का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। इस अंक पर एक विस्तृत लेख अलग से परिकथा के इस अंक में है। फिर भी इसके उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं कर पाई। हमारे हिंदी के भाषा विद्वान् पर एक अंक उर्दू की नजर से आया है। यह भी हमारे लिए गर्व का विषय है। इंतजार रहेगा कि उर्दू में कोई पत्रिका इस तरह की कब निकलती है। परिकथा के अंक में दूसरा ही लेख डॉ जानकीप्रसाद शर्मा जी का छापा है-'हिंदी व उर्दू के रिश्तों पर एक नजर' पढ़ने को मिला। जिसके द्वारा हिंदी व उर्दू के बीच का आपसी संबंध उनके इस कथन से की- 'उर्दू की जड़ें फारसी में नहीं, देसी भाषा-परंपरा में है।' जिस तरह उर्दू को हिंदी भाषा परिवार के ज्यादा नजदीक लाने वाले अनेकानेक उद्धरणों से पूरे लेख में इस बात को मजबूती से रखते हैं जिसे पढ़ते हुए जैसे मन में एक सुकून बिल्कुल उसी तरह से आता है जैसे आप कहीं बहस में कमजोर पड़ रहे हो और कोई आपके पक्ष में अपने अकाट्य तर्कों के आ खड़ा हुआ हो। जब मुहम्मद हुसैन आजाद का उदाहरण देते हैं कि 'इतनी बात हर शख्स जानता है कि हमारी जबान उर्दू ब्रजभाषा से निकली है।' तो वही एहतेशाम हुसैन उससे आगे बढ़कर अपनी बात रखते हुए कहते हैं कि 'शौरसैनी अपभ्रंश से विकास पाने वाली अन्य भाषाओं में एक उर्दू भी है और यही कारण है कि उर्दू, पंजाबी और हरियाणवी के व्याकरणों में कोई बड़ा अंतर नहीं है' हिंदी से लिपि की भिन्नता और फारसी से उर्दू के रिश्तों को ढाल बनाने वालों को उर्दू के भाषा व्यवहार में हिंदी के उपसर्ग, प्रत्यय और मुहावरों के बहुत से उदाहरणों से जिस तरह यह लेख हिंदी से उसके बहनापे को स्वत: सिद्ध करता चलता है यह सुकून इसी बात का है। दोनों बहने हैं। दोनों का जन्म इसी भाषा परिवार से हुआ है। जैसे इस सुने और माने का लिखित दस्तावेज मिल गया हो।

आपने इस लेख में हिंदी साहित्य के इतिहास में उर्दू की मात्र चर्चा या हाशिए पर रखे जाने का उल्लेख करते हुए उर्दू के पाँच महत्वपूर्ण साहित्येतिहास की पुस्तकों पर संक्षिप्त लेकिन महत्वपूर्ण जानकारी साझा की है, जो हिंदी उर्दू प्रेमियों के लिए उपयोगी है। 'हिंदी व उर्दू की आत्मीय आपसदारी' पढ़ते हुए यह बराबर लगता है कि यह दोनों भाषाओं के बीच एक छोटी खुली खिड़की का नहीं पूरे दरवाजे से आवाजाही का मामला बनता है। जैसे 'दिन उठि विदा अवधपति माँगा, राखेउ जनक सहित अनुरागा।' में आए विदाई के बाद 'विदाई समारोह' शब्द में किस तरह संस्कृत और अरबी के गठजोड़ को धीरे से पक्का कर दिया। ऐसे असंख्य उदाहरण से यह लेख इस आपसदारी को बड़ी सहजता से सामने लाता है जो कुछ शब्दों के जोड़ का महज उदाहरण ही नहीं है अपने साथ इस देश की पूरी सांस्कृतिक विरासत के साथ उपस्थित होता है। उनका यह लेख उर्दू के प्रति उनके गूढ़ अध्ययन, उसके प्रति समर्पण का की मात्र झांकी है उन्होंने हिंदी उर्दू के जानकारों के लिए नहीं बल्कि हम जैसे सामान्य ज्ञान रखने वाले के लिए बहुत ही सहज-सरल भाषा में लिपि से लेकर व्याकरणिक नियमों के बीच किसकी नजदीकी किसके साथ है उसमें भाषाई समाज, भौगोलिक परिवेश, और सांस्कृतिक समन्वय की पूरी पृष्ठभूमि के मध्य इनकी करीबी को विभिन्न उदाहरणों से सामने रखा है। अपने बड़ों की एक बात याद आ रही है कि-'पानी तो पुराना चावल ही सोखता है। नया चावल तो बहुत कम में ही गिलगिला बनता है।' इस स्वीकारने में जरा भी संकोच नहीं है कि जो काम पुरानी पीढ़ी ने कर दिया हम तो उसे ही दोहरा रहे हैं।

बोल चाल में हम जितनी सहजता से आपसी संवाद में बिना किसी भेद के धड़ल्ले से जबान पर आने वाले शब्दों को मुख-सुख के अनुसार या कहे लेखन में अपनी सुविधानुसार प्रयोग करते हैं यह

**डॉ. चंद्रकला सिंह**

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।
**संप्रति:** सहायक प्राध्यापक, दिल्ली विश्वविद्यालय।

**संपर्क**
मो.: 9868249466


रोज की आवाजाही का मामला है। ज्यादातर अवसरों का यह अनुभव रहा है कि जब सभा सेमिनार में हिंदी वाले जितनी क्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग कर सकते हैं करते हैं जैसे विषय की कमी को भाषा के आतंक से पूरा कर रहे हों। वहीं उर्दू के व्याख्याता भी उनको मात देने के लिए जितना संभव हो सकता है उतना जबान मोड़ कर अपने अल्फाजों को फारसी की चाशनी में डूबो-डूबों कर भारी भरकम बना कर श्रोताओं पर धाक जमाने की कोशिश करते हैं वह भी एक अलग व्याख्या की मांग करता है। फिर संवाद कैसे हो सबको अपनी बात ऊपर ही जब रखनी हो वहाँ संवाद कम वाद-विवाद की संभावना ही अधिक दिखाई देती है।

दोनों भाषाओं के बीच की यह दूरी पाटने के लिए इनके साहित्य का एक दूसरे की भाषा, या पत्रिकाओं के अनुवाद कम ही मिलते हैं। दोनों की अपनी अलग ही दुनिया है सिवाय शेरो-शायरी के बहाने एक दूसरे की गली में एक खिड़की खुली होने के अलावा। किसी के घर बड़े मन से जाओं और दरवाजे पर लटका ताला न सिर्फ आपका रास्ता रोकता है, बल्कि आपके उत्साह को खत्म कर देता है। उस पर भी जब एक मोटा डंडा लिए पहरेदार बैठा हुआ आपको लगातार घूरे जा रहा हो तो कुछ देर इंतजार करने का हौसला भी पस्त हो जाता है। तो ऐसे में यही सूली ऊपर सेज पिया की, किस विध मिलना होय। उर्दू और हिंदी को बाँट कर अपनी-अपनी गद्दी पर बादशाह बने

बैठे हुए लोग कुछ ऐसी ही धौंस जमाते है। यह शिकायत मात्र मेरी ही होगी लेकिन ऐसा बहुत लोगों को लगता होगा, लेकिन नहीं मेरी बात को बल मिला है इसी अंक में डॉ. जानकीप्रसाद जी के माध्यम से हिंदी और उर्दू के अवदान पर सुहैल वहीद जी का लेख 'हमारी ही हिंदी, हमारी ही उर्दू' इन सारी वाजिब शिकायतों को बड़े तफसील से उठाते हुए कहते हैं-'हिंदी का मुआमला उर्दू प्राध्यापकों-विद्वानों के नजदीक कुछ ज्यादा ही उलझा हुआ है। एकाध उर्दू प्रोफेसर मिल जायेंगे जो हिंदी को जबान ही नहीं मानते। हिंदी कहानी के बुलंद होते स्तर को भी मुश्किल से तस्लीम करते है।' धीरे-धीरे ही सही जब यह बात दोनों तरफ से उठ रही है। तो एक साथ बैठकर इस दूरी को पाटने का काम भी तेजी से होगा।

बात कुछ अपने दायरे की यानि स्त्री लेखन की। दो महत्वपूर्ण कहानी संग्रह अपनी विषय गत विविधता के कारण उल्लेखनीय हैं। जिनमें स्त्री एक का संपादन पूनम सिंह ने किया है। शम्भुनाथ जी को समर्पित इस संग्रह पर अपनी बात रखी है डॉ. किरण ने। उन्होंने महिला रचनाकारों पर लगे आक्षेपों का जवाब इन कहानियों के बरक्स 'रोशनी के दरमियाँ : जिंदगी के कई रंग' में दिया है। शम्भुनाथ जी के कथन-'आजकल स्त्री रचनाकार आमतौर पर सांप्रदायिक हिंसा को लेखन का विषय क्यों नहीं बनती? आखिर धार्मिक कट्टरता पर अधिकांश चुप क्यों हैं?' स्त्री रचनाकारों ने सकारात्मक रूप से लेते हुए सृजन संवाद को एक नया विस्तारित आयाम दिया और फलस्वरूप इन कहानियों का सृजन हुआ।' सभी 16 कहानियों में साम्प्रदायिक वैमनस्य के बीच बदलते रिश्तों के अनछुए, अनदेखे कोने कतरों से उन सूनी आँखों व गालों पर आँसुओं की सूखी रेख को खींच कर उजाले में ला खड़ा किया है। 'यह सच है कि प्रस्तुत पुस्तक में स्त्रियों के कई तरह के आख्यान हैं, जो महज स्त्रियों की पीड़ा, रुदन, तड़प और बेचैनी ही नहीं है, बल्कि इसमें स्त्रियों के स्वप्न भी हैं, प्रेम भी है, उपदेश, सीख और उनकी रचनाओं की चमक भी है।' इन कहानियों को अलग-अलग पत्रिकाओं या उनके संग्रहों में हम पढ़ चुके हैं, लेकिन यह ऐसा ही अनुभव है जैसे एक साथ एक जगह फिर से इन्हें पढ़ना अपने बुदबुदाते स्वरों को तेज आवाज में सुनकर खुद ही चौंक जाना। दूसरी समीक्षा चारुमित्रा जी की 'सरे राह कथा बांचती स्त्रियाँ' को 'एक यथार्थवादी स्त्री विमर्श और बाजारवादी समय का दस्तावेज' शीर्षक के अंतर्गत वंदना गुप्ता के संपादन में आयी इस किताब की कहानियों के द्वारा एक महिला कहानी लेखन की एक सुदीर्घ पूर्व परंपरा की याद के बहाने कथा लेखन में आए हुए बदलावों के बीच आज इन कहानियों का मुल्यांकन किया है। जो एक सुखद अनुभव का भी बोधक है। ममता कालिया जी के कथन से उन्होंने अपनी बात खत्म की है-'कहानी खत्म हो जाती है/पढ़ने वाले के लिए/ सुनने वाले के लिए/कहने वाले के लिए अभी भी शेष रहती है थोड़ी/ जैसे मटके में पानी' स्त्री लेखन भी कुछ ऐसे ही है। अभी भी उसके भी उसके भीतर बहुत कुछ है जो समय की शिला पर अंकित होने से बचा हुआ है।

कृतित्व में इस बार सूर्यनाथ सिंह के कहानी संग्रह धधक-धधक धुंआ, कोई बात नहीं, और चलती चाकी के साथ ही कुछ रंग बेनूर व उनके उपन्यास नींद क्यों रात भर नहीं आती, पर प्रोफेसर राजकुमार जी ने एक विस्तृत लेख लिखा है। कहानी के मर्म तक पहुँचने के उनकी विषय वस्तु के साथ ही लेखक की सोच उस पर पड़ने वाले प्रभाव की चर्चा किए बिना तो बात बनती ही नहीं है। क्योंकि एक रचना का परिवेश मात्र रचनाकार के मानस में ही नहीं आकार लेता है, उसके विचारों या भावों का मात्र पुलिंदा ही नहीं होता, अपितु वह बाहरी परिवेश, वैश्विक भौगोलिककारण, बाजारीकरण उथल-पुथल, विकास की अंधाधुंध चकाचौंध के आघात-प्रतिघात से लगातार कभी संवाद तो कभी विवाद करती रूपाकार लेती है। इस लेख में कहानी व उपन्यास के बहाने उठाये गए सभी गंभीर प्रश्नों, उनकी चिंताओं में व्याप्त गाँव व शहर की समस्याएँ एक के बाद एक आती ही चली जाती है। इसी लेख से 'इन कहानियों में हिंदुस्तान के विकास का रास्ता गाँवों से होकर गुजरता है। इस प्रवाह में गाँव भी शहर बन रहे हैं। उनमें शहर बनाने की आतुरता है... हिन्दुस्थान के गाँव बर्बाद हो रहे हैं। इस बर्बादी के कई दृश्य सूर्यनाथ सिंह अपनी कहानियों के माध्यम से सामने रखते हैं।'

जिसमें इन कहानियों के बहुत से सूत्र आपको उपन्यास के बड़े कलेवर में भी बाहर के कोलाहल के बीच नायक के भीतर के क्षरण को भी उतनी ही सघनता से बुनते हैं जो बिना चीत्कार के भी आपकी धमनियों के प्रवाह को तीव्र कर देता है। इस तरह शहर से लेकर गाँव, सरकारी व्यवस्था से सहकारी तंत्र के, आम आदमी, किसान और युवाओं की सभी समस्याओं को बहुत बेहतर ढंग से इनके माध्यम से सामने रखा है। विकास के नाम पर भविष्य तो छोड़िये आज अभी के दौर में ही कितनी कठिनाइयाँ मैदान से लेकर पहाड़ तक विगत समय में सभी ने झेली है। ये कहानियाँ उन मुद्दों को गंभीरता से न सिर्फ उठती है बल्कि इसके पाठक को भी अपने साथ उन पर सोचने के लिए बाध्य करती हैं। बल्कि कहे तो इस ब महत्वपूर्ण समीक्षा ने उसे और भी सधनता में प्रस्तुत किया है।

इस अंक की कहानियाँ और कविताएँ हर बार की तरह लेख और अन्य रचनाओं से पहले अपने को पढ़वा लेने में सफल रही है। विषयों की विविधता आपको अंत तक बांधे रखती है। किसी एक की चर्चा करके उनके पढ़े जाने का सुख मैं उनसे नहीं छीन सकती जिन्होंने उसे आराम से फुर्सत में पढ़ने के लिए छोड़ रखा है। किसी भी विधा में लिखने से पहले कितना शोध, सामग्री संकलन के लिए की गई यात्राएँ लेखक से बात करने पर उसके साथ ही उसके पाठक भी किस तरह जानने की उत्सुकता जगती हैं यह लेखकों से लिए गए साक्षात्कार से आप स्वयं जाने तो बेहतर होगा। नयी आमद के तौर पर कई कहानी व कविता-संग्रह की समीक्षाएँ आपकी रूचि के अनुकूल निर्णय लेने में अवश्य सहायक बनेगीं।

❑❑❑

# परिकथा

समय और समाज की परिक्रमा

वर्ष 20 अंक 110, जनवरी-मार्च, 2026

रेखांकन:
सुषमा सिन्हा


सौजन्य-सपादक
**अरुण कुमार • अशोक शाह**
**धनेशदत्त पांडेय • राजेंद्र श्रीवास्तव**
**अनवर सुहैल • दिनेश अग्रवाल**

संपादक
**शंकर**

संपादक-मंडल
**डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह**
**हरियश राय**
**महेश दर्पण**



**संपर्क सूत्र**
102, बुडबरी टावर
चार्मवुड विलेज
सूरजकुंड रोड,
नई दिल्ली-फरीदाबाद बॉर्डर-121009

दूरभाष
सम्पादकीय/ व्यवस्थापकीय 09431336275
08826011824
कार्यालय (0129) 4116726
**email :** parikatha.hindi@gmail.com

संयुक्त संपादक
**अरविंद कुमार सिंह**

संपादन-सहयोगी
**अजय मेहताब**
**रवि कुमार**

कला : जयंत
कानूनी सलाह : उत्कर्ष

**क्षेत्रीय समन्वयक**
अवधेश द्विवेदी


## आलोचनात्मक टिप्पणियाँ


'परिकथा' का 109वाँ अंक :
परिनिष्ठित स्तरीयता का आह्लादकारी अनुभव — डॉ. नितिन सेठी — 1

'परिकथा' : समय और समाज की परिक्रमा — प्रो. चंद्रकला — 4


## विषय सूची

## सम्पादकीय


किताबें — 10


## लेख


हिंदी व उर्दू के रिश्तों पर एक नज़र — डॉ. जानकीप्रसाद शर्मा — 13


## श्रद्धांजलि


ज्ञानरंजन
तारामंडल के नीचे से तारामंडल के बीच जाना एक सृजनधर्मी का — प्रो. स्मृति शुक्ल — 20


## व्यक्तित्व


स्वप्न, संघर्ष और प्रतिबद्धता का समुच्चय : 'हमारे खगेन्द्र ठाकुर' — डॉ. कुमारी उर्वशी — 24


## किताब


'ईश्वर का दुख:'
संघर्षशील मनुष्यता के लिए प्रार्थना — बसंत त्रिपाठी — 34

**लंबी कविता**

मणिपुर! मेरे देश के मणि! — डॉ. भरत प्रसाद — 38

**परिदृश्य**

**हाल-फिलहाल के उपन्यास : उपन्यासकारों से बातचीत**

- संतोष दीक्षित से युवा कवि-आलोचक चंद्रबिंद की बातचीत — 44
- उपन्यासकार ज्ञानचन्द बागड़ी से अलोचक अंकित नरवाल की बातचीत — 48
- आशा पाण्डेय से अंजू शर्मा की बातचीत — 52
- सविता पाठक से अंबिकेश द्विवेदी की बातचीत — 56

**लेख**

जादुई यथार्थवाद और कलादृष्टि — डॉ. सुभाष शर्मा — 58

**प्रसंग**

मैं बोधिवृक्ष हूँ — अशोक शाह — 64

**कृतित्व**

अवधेश प्रीत, तुम्हें हम बार-बार पढ़ते रहेंगे... — हरियश राय — 69

**स्मृतिलेख**

लोगों के दिलों में हमेशा रहेंगे प्रीत सर — कमलेश — 73

**चौपाल**

आखिरी तीर — नर्मदेश्वर — 77

**कहानियाँ**

आधे घंटे का खुदा — कृश्नचंदर, *अनु.:* खुर्शीद आलम — 83

जनमरीचिका — राजेन्द्र लहरिया — 87

भटकन — नूर ज़हीर — 91

बिल्ला नम्बर पन्द्रह — सुषमा मुनीन्द्र — 95

उफ्फ, कितने असहाय और अकेले — धनेश दत्त पाण्डे — 101

जूनियर डॉक्टर — गजेंद्र रावत — 108

इत्ती सी जिंदगी — धनंजय चोपड़ा — 111

ये फुटकर लोग... — महावीर राजी — 114

गुजरे हैं बाजार से... खरीदार नहीं हैं — सत्यम श्रीवास्तव — 120


'परिकथा' के सदस्यों तक पत्रिका नहीं पहुँच पाने की शिकायतों के बीच यह निर्णय लिया गया है कि 'परिकथा' अब सामान्य डाक से नहीं, सिर्फ रजिस्टर्ड डाक से भेजी जायेगी। सदस्यता शूल्क निम्नवत होगी :

| | |
|---|---|
| दस अंकीय सदस्यता | 1000/- |
| डाक खर्च | 500/- |
| पाँच अंकीय सदस्यता | 500/- |
| डाक खर्च | 250/- |

**सौजन्य सदस्यता : 10,000 रुपये**

**यह अंक : 150 रुपये**

सभी भुगतान चेक या ड्राफ्ट से या फिर सीधे 'परिकथा' एकाउंट में हो :

**PARIKATHA**
**A/c No. : 50200010771980**
**Charmwood Village, Surajkund Road**
**Faridabad-121009**
**RTGS / NEFT / IFSC : HDFC 0000396**


संपादक, सहायक संपादक अवैतनिक, अव्यवसायिक रूप से मात्र साहित्यिक-सांस्कृतिक कर्म में सहयोगी।

रमाशंकर प्रसाद द्वारा डॉलफिन प्रिन्टो ग्राफिक्स, 4-ई/7, पाबला बिल्डिंग, झण्डेवालान एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110055 से मुद्रित कराकर 102, बुडबरी टावर चार्मवुड विलेज, सूरजकुंड रोड, नई दिल्ली-फरीदाबाद बॉर्डर-121009 से प्रकाशित।



'परिकथा' में प्रकाशित रचनाओं में विचार लेखकों के अपने हैं।



मौजूदा पता का समावेश और पत्रिका की त्रैमासिक प्रकाशन अवधि आवेदित

दहशत — प्रगति गुप्ता 137
टन टना टन-टन — गोविन्द उपाध्याय 141
अमरूद का पेड़ — चारुमित्रा 145
अटैचमेंट — बंशीलाल परमार 148
उसके ई-रिक्शा की पहली सवारी — अरुणेन्द्र नाथ वर्मा 151
साइकिल — शैलेंद्र शांत 156
छोटी-सी आरजू — सैयद परवेज 159

**विचारभूमि**

क्या कबीर वास्तव में निरक्षर थे? एक पुनर्विचार — अजय सिंह गंगवार 163

**कविताएँ**

नृत्य — सुभाष राय 169
अगर — स्वप्निल श्रीवास्तव 171
आत्म कथा — गोविंद माथुर 173
मिर्ज़ा गालिब — शहंशाह आलम 175
गाजा के बच्चे — ज्योतिकृष्ण वर्मा 177
उजाले भी बहुत हैं वहाँ — सुब्रतो चटर्जी 178
माह नवम्बर और मैं — सुजाता कुमारी 179

**किताबें**

'.गालिब' के दीवान की पहचान — कमलेश वर्मा 181
नागरिक समाज के नागरिकता बोध की पड़ताल : डॉ. बसंत त्रिपाठी की कविताएँ — प्रफुल्ल रंजन 184
'अखबार बेचने वाला लड़का': समय, समाज और संवेदना की कविताएँ — डॉ. अमल सिंह 'भिक्षुक' 187
संवेदना के आइने में 'हिनुआ है... तू काफिर है' — अरुण कुमार वर्मा 190

**कविता प्रदेश**

झारखंड की समकालीन कविता: एक आलोचनात्मक दृष्टि — डॉ. पवन कुमार पांडेय 193

**परिक्रमा** 198

**आवरण-चित्र** : **'जंजीरें'**
**आवरण-चित्रकार**: बंशीलाल परमार, मो.: 9926494975
**भीतरी रेखांकन** : सुषमा सिन्हा, रोहित, गोविन्द सेन, आस्था, लोकेश, संदीप राशिनका
**कम्प्यूटर सज्जा** : **जोशी टाइपसेटर**, म.नं. 31, गली नं. 37-बी, कौशिक इन्क्लेव, बुराड़ी-110084 मो.: 9650463001

सम्पादकीय

विनोद कुमार शुक्ल, ज्ञानरंजन, राजेंद्र कुमार, अवधेश प्रीत, वीरेंद्र यादव की स्मृतियों को सादर नमन।

# किताबें

किताबें निर्विवाद रूप से हमेशा से एक सभ्य, सुसंस्कृत और विकसित समाज की पहचान रही हैं और यह समझा जाता रहा है कि यदि किताबें न हों तो यह दुनिया आदिम युग की दुनिया की तरह लगने लगेगी। यह भी माना जाता रहा है कि जिस समाज में किताबों का चलन जितना ही ज्यादा है, वह समाज उतना ही सुसंस्कृत और विकसित है।

यह एक जानी हुई मिसाल है कि बंगाल में आज भी जब कोई मध्यवर्गीय व्यक्ति बाजार करने जाता है तो लौटते समय उसके झोले में या उसके हाथ में कोई पत्रिका या किताब दिखायी पड़ती है। बंगाल के सामान्य मध्यवर्गीय परिवारों के बाहरी कमरे में आज भी किताबें और संगीत के वाद्ययंत्र दिखायी पड़ते हैं।

किताब और पढ़ने की संस्कृति के बारे में इधर अलग-अलग अवसरों पर जो छिटपुट बातें चर्चा में आ रही हैं, उन्हें हम एक साथ रखकर कुछ सोच-समझ सकते हैं–

(i) हर साल किताबें काफी संख्या में निकल रही हैं लेकिन इन किताबों की बमुश्किल 100-150, दो या तीन सौ प्रतियाँ छप रही हैं, छः सौ प्रतियाँ बड़े प्रकाशकों द्वारा किसी-किसी किताब की निकली जा रही हैं। इससे ज्यादा प्रतियाँ सिर्फ उन्हीं किताबों की निकल रही हैं जो कोर्स में लगी हुई हैं या जिनके लेखक को कोई राष्ट्रीय स्तर का बड़ा सम्मान मिल चुका है।

(ii) साहित्य-शिक्षण और साहित्य लेखन से जुड़े लोग किताबें पढ़ने के प्रति ज्यादा रूचि लेते हुए नहीं दिखायी पड़ रहे हैं। इनकी रूचि सिर्फ सम्पर्क, सम्बंध या जरूरत तक सीमित रह रही है। स्वयं लेखक भी दूसरे लेखकों की किताबें नहीं पढ़ रहे हैं।

(iii) विभिन्न संस्थान, विश्वविद्यालय और सरकारी विभाग किताबों की एकमुश्त खदीद कर तो कर रहे हैं लेकिन ये किताबें कुछ ही पुस्तकालयों तक पहुँच रही हैं। पुस्तकालयों की संख्या बढ़े, इनका चुस्त रखरखाव और प्रबंध हो, ये चिंताएँ गौण बनी हुई हैं। यदि यह सब हो तो बहुत सारे पाठकों को किताबों का बना बनाया मुकाम मिले।

(iv) विभिन्न शहरों में आयोजित हो रहे पुस्तक-मेले और अमेजन-फ्लिपकार्ड जैसी डिलीवरी प्रणाली किताबों की 'लाइफ लाइन' हैं। ये पाठकों और किताबों के बीच पुल का काम कर रही हैं। लेकिन यहाँ दिक्कत स्टॉलों के ज्यादा किराये को